अरविंद घोष

निर्मल वर्मा

कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य

भारतीय मानस का वि-औपनिवेशीकरण

प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान* की कार्य-योजना

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय मानस का वह भाग जो औपनिवेशिक भारतीयता का उत्पाद है, उसके लिए वि-औपनिवेशीकरण एक प्रतिगामी विचार है; और भारतीय मानस का वह भाग जिसमें अपने स्वरूप और साथ ही साथ स्वरूप से विस्थापित होने की आत्मचेतना किसी न किसी रूप में बनी हुई है, उसके लिए वि-औपनिवेशीकरण एक पुरोगामी प्रक्रिया है। यह पुरोगामी प्रक्रिया उनके लिए मानो नीत्शे की 'शाश्वत वापसी' का आह्वान है ताकि अपने सांस्कृतिक आत्म में पुन: प्रतिष्ठ हुआ जा सके। वही सांस्कृतिक आत्म जिसका स्वरूप उपनिवेशवाद के कारण उत्पन्न हुए उन्मूलन और तमाम कर्दम-कलुषों के बीच भी पूरे तौर से कायांतरित नहीं हुआ है। अत: वि-औपनिवेशीकरण के प्रश्न पर दो विपरीत ध्रुवों में दोलायमान भारतीय मानस के साथ संवाद करने के लिए औपनिवेशीकरण के अभिप्राय और अपहितियों को गहरे में उद्घाटित करना होगा। इसके लिए सर्वप्रथम औपनिवेशीकरण और युरोपीयकरण के अर्थ और निष्पत्तियों को अलग-अलग करके समझना ज़रूरी है। इन दोनों के बीच का अंतर अन्य देशों के लिए भले महत्त्वपूर्ण न हो, लेकिन भारत के लिए इनका अंतर विशेष महत्त्व रखता है। औपनिवेशीकरण एक राजनीतिक प्रक्रिया है और उसका लक्ष्य साम्राज्य-विस्तार के लिए परोक्ष-अपरोक्ष तरीक़ों से राजनीतिक आधिपत्य स्थापित कर अपने लाभ के

---

* अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान

लिए राजनीतिक-आर्थिकी का एक मजबूत तंत्र विकसित करना होता है। परंतु युरोपीयकरण अपने आप में अधिक व्यापक सांस्कृतिक-साभ्यतिक प्रक्रिया है। आधुनिकता के मुखौटे में इसने आज एक बलीयसी विश्व-सभ्यता का रूप अख़्तियार कर लिया है। यह पश्चिम का एक सार्वभौम मिशन है और उसका लक्ष्य पूरी दुनिया को अपनी चपेट में लेकर सम्पूर्ण मानव जाति को साभ्यतिक रूप से प्राधिकृत करना है।[1] औपनिवेशीकरण और युरोपीयकरण में इस अंतर के बावजूद यह समझना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि औपनिवेशीकरण किस तरह युरोपीयकरण के लिए सवारी का काम करता है। ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों में भाषा और विचार तथा मनोवृत्ति के धरातल पर आधुनिक सभ्यता का तेज़ी से प्रचार-प्रसार और संस्थानीकरण इसी को प्रमाणित करता है। अत: कोई देश यदि औपनिवेशिक प्राधिकरण से अपने को मुक्त भी कर लेता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह युरोपीयकरण से भी मुक्त हो गया है। औपनिवेशीकरण का वास्तविक संकट यही है कि उसका अवशेष युरोपीयकरण के रूप में बचा रहता है और कालांतर में फलता-फूलता रहता है।

I

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि औपनिवेशीकरण का यह संकट वैसे उपनिवेशों के लिए कोई ख़तरा नहीं जिनकी कोई निजी सांस्कृतिक-साभ्यतिक पहचान नहीं रही है। औपनिवेशीकरण से मुक्त होने के लिए उन्हें केवल राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए और इस तरह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होकर भी वे सभी युरोपीयकरण की साभ्यतिक प्रक्रिया के अंगभूत बने रह सकते हैं। अधिकतर उपनिवेश अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के औचित्य का मूल्यांकन इसी रूप में करते हैं। परंतु भारत का संदर्भ भी क्या ऐसा ही है? संस्कृति और सभ्यताओं के बहुध्रुवीय विश्व में भारत एक छोटा-मोटा कोई देश नहीं अपितु आधा ग्लोब है। अपनी विशिष्ट संस्कृति और सभ्यता के चलते ही भारत विश्व की मान्य संस्कृतियों और सभ्यताओं के लिए प्राचीनकाल से ही हमवज़न बना रहा है।[2] भारतीय संस्कृति की सुदीर्घ निरंतरता का सानी तो दुनिया की अन्य कोई संस्कृति है ही नहीं। अत: भारत की स्वतंत्रता का मूल्य अन्य उपनिवेशों को मिली राजनीतिक स्वतंत्रता से न केवल भिन्न बल्कि व्यापक और बृहत्तर भी है। इसलिए भारत का औपनिवेशीकरण से मुक्त होने का अर्थ-संदर्भ अन्य उपनिवेशों की औपनिवेशिक मुक्ति से तुलनीय नहीं है। हमारा स्वाधीनता आंदोलन यदि दुनिया की सबसे शक्तिशाली साम्राज्य की जड़ों को हिला देने में समर्थ हुआ तो इसलिए कि स्वतंत्रता का उसके लिए सिर्फ़ एक राजनीतिक मूल्य नहीं था। अपनी संस्कृति और सभ्यता के विश्व-बोध को अपने जीवन में प्रतिष्ठापित करने का आदर्श था। अपनी धूमिल हुई पहचान को पुन: पाने का, अपने विश्वसनीय सांस्कृतिक आत्म को फिर से हासिल करने का अलख स्वप्न था। अत: भारत के लिए औपनिवेशीकरण से मुक्ति का वास्तविक निहितार्थ युरोपीयकरण से मुक्ति है। हम 1947 में राजनीतिक रूप से स्वाधीन होकर औपनिवेशिक प्राधिकरण से कदाचित् मुक्त तो हो गये लेकिन विडम्बना यह है कि युरोपीयकरण के अंगभूत अभी भी बने हुए हैं। औपनिवेशीकरण का अवशेष 'युरोपीयता' मानो हमारी समझ में 'स्वरूप की भ्रांति' उत्पन्न करने के हद तक अभ्यांतरित हो गयी है। आज भारत किसी साम्राज्यवादी सत्ता का उपनिवेश नहीं है फिर भी वह अपनी संस्कृतात्मा पर युरोपीय सभ्यता के उस शरीर को प्रत्यारोपित किये हुए है जिसकी आत्मा उसे कब के छोड़ कर चली गयी है। कहा जाता है कि माइकिल एंजिलो

---

[1] जड़ावलाल मेहता (1986) : 30. वे इसे एक फ़लसफ़ा कहते हैं, 'फ़लसफ़ा एक असाधारण, एक नये प्रकार की संस्कृति का नाम है, वह देश और जाति से सीमित नहीं है. जहाँ भी यह चिंतन-शैली अपनाई जाती है, एक अभूतपूर्व उथल-पुथल पैदा करती है. सारी मानव जाति को, पश्चिम के माध्यम से इसका नेतृत्व मिले, यही पश्चिम का मिशन है'.

[2] विश्व की मान्य संस्कृतियों से मेरा तात्पर्य प्राचीन दुनिया की चार विशिष्ट जीवन-शैलियों से है जो 500 ई.पू. तक विकसित हो चुकी थीं और हर-एक ने दो हज़ार वर्षों तक अपनी स्वायत्तता को बनाए रखा. ये हैं— मध्यपूर्व, भारत, यूनान और चीन की संस्कृति और सभ्यताएँ.

की सबसे अधिक सशक्त और उज्ज्वल मूर्तियों में जो गहरे अवसाद के भाव हैं वह इसी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है कि युरोप के शरीर से यानी आधुनिक युरोप के शरीर (सभ्यता) को उसकी आत्मा छोड़ कर चली गयी है। यद्यपि युरोपीय सभ्यता की प्रसिद्धि का गुणगान करने वाले और उसे मानवता का एकमात्र राजपथ बताने वाले विचारकों की कमी नहीं है, फिर भी उनके ही बीच कुछ ऐसे भी सभ्यता-समीक्षक हैं जो युरोपीय सभ्यता-बोध के उस पक्ष को बहुत ही मूलगामी तरीक़े से उजागर करते हैं जहाँ उसे अकूत भौतिक उपलब्धियों के बीच— 'आत्माविहीन शरीर' और 'संस्कृतिविहीन सभ्यता' के रूप में देखा जा सकता है।[3] इसमें दो राय नहीं कि अपनी समूची समृद्धि और वैभव के बाद भी युरोप आंतरिक उजाड़ की उस 'वेस्टलैंड अनुभूति' से आक्रांत लगता है। युरोपीय काव्यों और कलाओं में यह भाव बहुविध रूप से मुखरित हुआ है। इसी को बाद में हाइडेगर जैसा सभ्यता-समीक्षक बेघरपन की अनुभूति से अभिहित करता है और यह भी कहता कि यह दैवी दीप्ति का दुनिया से उड़ जाना है।

यह कोई महज़ एक संयोग नहीं था कि गाँधी ने *हिंद स्वराज* लिखने के उपरांत भारत में ब्रिटिश हुकूमत के विरोध की शुरुआत की थी। इतना ही नहीं, उसी के आस-पास श्री अरविंद ने *इण्डियाज़ रिबर्थ* (भारत का पुनर्जन्म) और *द रेनाँसा ऑफ़ इण्डिया* (भारत का पुनर्जागरण) लिख कर भारत की मुक्तिकामी योजना को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया था। भारत की नियति को बहुत गहराई से और बहुत दूर तक देख पाने में समर्थ इन दो महापुरुषों की क्रांत-दृष्टि में क्या इस बात का संकेत नहीं छिपा हुआ है कि उन्होंने औपनिवेशिक भारत के राजनीतिक संकट को भी एक सांस्कृतिक-साभ्यतिक संकट के अंश के रूप में देखा था। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उनकी इस दूरगामी दृष्टि में युरोपीय सभ्यता को सिरे से ख़ारिज करने का सम्पूर्ण नकार भी निहित था। परंतु स्वतंत्रता के पश्चात् हम इस 'नकार' को भूलने के विरुद्ध अपने को खड़े नहीं कर पाए। विगत सत्तर वर्षों में भारत के ऊपर स्वातंत्र्योत्तर प्रकार की दासता के बादल गहराते ही गये हैं। सच पूछा जाय तो आज़ादी के बाद हम जिस देश-प्रेम का नारा लगाते रहे वह एक राजनीतिक देश था, सांस्कृतिक देश नहीं। ऐसा राजनीतिक देश जिसका सांस्कृतिक आदर्श युरोप नहीं बल्कि आधुनिक युरोप था। एक राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता के मूल्यबोध को जिन एजेंसियों अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, शैक्षिक और विधिक संस्थानों के माध्यम से चरितार्थ करता है वे सब आज़ादी के बाद बनाए तो गये, लेकिन सबके सब औपनिवेशिकता के अवशेष युरोपीयता के फलने-फूलने हेतु खाद-पानी की तरह काम करते रहे। और तो और, राष्ट्र-निर्माण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले उच्च शिक्षा संस्थानों की हालत यह रही कि 1942 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय के रजत जयंती समारोह के अध्यक्षीय उद्बोधन में महात्मा गाँधी ने भारतीय विश्वविद्यालयों पर टिप्पणी करते हुए उन्हें पश्चिमी सभ्यता का स्याही सोख़्ता कहा था।[4] आज भी स्थिति बदली नहीं है, बल्कि भारतीय विश्वविद्यालयों का औपनिवेशिक चरित्र और भी दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है। इस सम्पूर्ण स्थिति को आकलित करते हुए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'पिछले 150 वर्षों में कुछ ऐसा घटित हुआ कि हम इस भारतीय सभ्यता के ज्ञानात्मक अतीत की जातीय स्मृति से कट गये हैं। उस स्मृति से, जो

---

[3] पश्चिमी सभ्यता की आलोचना में प्रणीत लगभग बीस पुस्तकों की सूची गाँधी ने *हिंद स्वराज* के परिशिष्ट दो में प्रस्तुत की हैं. ये पुस्तकें आधुनिक सभ्यता के आरम्भिक काल में ही पश्चिमी विचारकों द्वारा लिखी गयी थीं. आज आधुनिक सभ्यता अपने विकास की चरम अवस्था प्राप्त कर रही है और उसकी निष्पत्तियाँ उत्तर-आधुनिक युग में आकार ग्रहण कर रही हैं, तो पश्चिमी सभ्यता की राजनीतिक-आर्थिकी की अंतर्भेदी समालोचना के लिए निम्नलिखित पुस्तकों की एक उपयोगी सूची प्रस्तुत की जा सकती है— एरिक फ्रॉम : *एस्केप फ्रॉम फ्रीडम,* सी.बी. मैकफ़र्सन : *द थियरी ऑफ़ पजेसिव इण्डिविजुअलिज़म,* हरबर्ट मारक्यूज़ : *वन डायमेंशनल मैन,* हन्ना अरेंत : *ऑन वायलेंस,* ई.एफ़ शुमाकर : *स्मॉल इज़ ब्यूटीफुल : अ स्टडी ऑफ़ इकॉनॉमिक्स एज़ इफ़ पीपुल मैटर्ड,* जूलिया क्रिस्टेवा : *पॉवर्स ऑफ़ हॉरर,* याक बारजून : *फ्रॉम डाउन टु डिकेडेंस : 500 इयर्स ऑफ़ वेस्टर्न कल्चरल लाइफ़,* जे.ई. स्टिगलिट्ज़ : *ग्लोबलाइज़ेशन एण्ड इट्स डिस्कटेंट,* इत्यादि.

[4] देखें, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय रजत जयंती समारोह में 21 जनवरी, 1942 को दिया गया भाषण (2007) : 3-10.

आत्मचेतना के स्तर पर इस सभ्यता के होने की, उसके अस्तित्व की बुनियादी शर्त रही है। यहाँ अंग्रेजों ने हिंदुस्तानियों के भीतर एक नये ही वर्ग को पनपाया है— जिस वर्ग में हम और आप सभी आते हैं— जो अपने मुल्क और उसके लम्बे अतीत से कहीं ज़्यादा पश्चिम के बारे में जानते हैं। ज्ञान के हर क्षेत्र में हम केवल वही जानते हैं जो पश्चिम ने उपजाया है— यूनानियों के वक़्त से लगा कर आज तक। हमारे स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में— जहाँ हमारे दिमाग़ की ढलाई होती है— यही पढ़ाया जाता रहा है। इस प्रकार एक ऐसी मानसिकता का निर्माण हुआ जिसमें हर आदमी भीतर से यही मान कर चलता है कि सारे ज्ञान की जड़ें पश्चिम में हैं। भारतीय सभ्यता का या शायद किसी भी अन्य पश्चिमेतर सभ्यता का अतीत इस दृष्टि से शून्य है कि उसका विश्व-सभ्यता को कोई योगदान भी है? हमारे यहाँ अगर कुछ है जिससे हम थोड़ी-बहुत उम्मीद कर सकते हैं, तो वह है सिर्फ़ अध्यात्म, धर्म या विज़डम, जो भी कह लें। हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृति-भ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ पकड़ चुका है कि हम में से अधिकतर इस तथ्य से बिल्कुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हज़ारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुज़र चुके हैं और गुज़र कर ही यहाँ पहुँचे हैं। हमारी स्मृति-भ्रष्ट बदहाली का यह हाल उस शिक्षा-पद्धति की देन है जो अंग्रेज़ों ने इस देश में रोपी और जिसकी परिणति एक भयानक रंगभेद सरीखे 'अपार्थाइड' में हुई है। एक तरफ़ वे लोग हैं जो अभी भी किसी तरह ज्ञान की परम्परागत पद्धतियों से चिपके हुए हैं, और दूसरी तरफ़ वे जो उन विषयों का उस पद्धति से अध्ययन करते हैं जिन्हें 'मॉडर्न' कहा जाता है। इन दो वर्गों के बीच किसी तरह के संवाद या सम्प्रेषण की गुंजाइश ही नहीं बची है। चूँकि ये मॉडर्न ही देश के सत्ताधारी 'एलीट' के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं और वही अपने को इस सभ्यता का एकमात्र प्रतिनिधि समझते हैं, इससे एक ऐसी विचित्र और असंगतियों से पटी हालत पैदा हो चुकी है कि इस देश का सभ्यतागत अतीत, जिसने अपने आप को पाँच हज़ार वर्षों के उथल-पुथल से भरे समय में भी निरंतर क़ायम और सक्रिय रूप से रचनाशील बनाए रखा है— उसके सामने अब इतिहास की इस घड़ी में सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति और पूरी तरह से उजड़ जाने का ख़तरा उपस्थित है।

अत: भारतीय संदर्भ में औपनिवेशीकरण और उससे भी ख़तरनाक युरोपीयकरण से मुक्ति का मतलब अपनी सनातन संस्कृति एवं परम्परा-बोध के प्रति स्मृति-भ्रष्ट बदहाली, अर्थात् विस्मृति के गर्त से मुक्ति है। इससे उबरने के लिए न तो किसी के विरुद्ध तलवार उठाने की ज़रूरत है और न ही तोप चलाने की आवश्यकता है। शत्रु की सही पहचान के बिना युद्ध में समय और शक्ति दोनों का अपव्यय ही होता है। औपनिवेशीकरण और युरोपीयकरण जब हमारे भीतर ही 'विचार-शत्रु' बनकर बैठ गया है तब 'विचार का शत्रु' बन कर उसका प्रतिकार नहीं किया जा सकता है। इसके लिए उस युरोपीय विचार के अंतराय से निजात पाने की ज़रूरत है जो हम भारतीयों के मन को भूत-प्रेत की तरह अपने वश में कर लिया है। साभ्यतिक-सांस्कृतिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो यह एक ऐसा वशीकरण है जो एक छाया-मन (शैडो माइंडसेट) का निर्माण करता है।[5] इस छाया-मन की विशेषता यह है कि इसके द्वारा वास्तविक-मन में अपनी ही संस्कृति और सभ्यता के प्रति हीन भावना पैदा की जाती है और फिर छाया-मन इसका निस्तारण युरोपीय सभ्यता को अपना लेने में देखता है, क्योंकि इस छाया-मन का निर्माण ही युरोपीय उपादानों से हुआ है। अत: इस मुक्ति को, केवल और केवल, प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की बौद्धिक परियोजना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि इसके कई एक अशुद्ध उपाय भी हो सकते हैं लेकिन चूँकि यह संस्कृतात्मा के स्वरूप-

---

[5] के.सी. भट्टाचार्य औपनिवेशीकरण का आंतरिक प्रभाव एक 'छाया मन' की निर्मिति में देखते हैं, उनके शब्दों में— 'पश्चिम के समृद्ध और सशक्त जीवन से उत्पन्न हुए ये विचार हम में एक ऐसे छाया-मन को जन्म देते हैं जो सच्ची सर्जनात्मकता के अतिरिक्त अन्य मामलों में एक वास्तविक मन की तरह कार्य करता है.' देखें, अम्बिकादत्त शर्मा (2006) : 374-75.

विषयक अज्ञान की समस्या है, इसलिए इस मुक्ति का शुद्धतम साधन प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान का मार्ग ही है।

यहाँ किसी सभ्यता-विमर्शक को वि-औपनिवेशीकरण की इस दृष्टि में हाइडेगर के 'प्रोजेक्ट ऑफ़ थॉट' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ सकती है। यदि इसे सही भी मान लिया जाय तो भी हमारी दृष्टि हाइडेगेरियन नहीं हो जाती, अपितु हाइडेगर के बरअक्स औपनिवेशिक भारत की वास्तविक समस्या को विदग्धता के साथ सम्बोधित और उद्घाटित करती है। वि-औपनिवेशीकरण के संदर्भ में यहाँ हाइडेगर को संदर्भित किया जाना अवांतर रूप से बहुत उपकारी भी है। हाइडेगर तकनीकी नास्तिकता (मनुष्य पर मशीनी-सभ्यता का अप्रतिहत प्रभुत्व) को मानव सभ्यता का सबसे बड़ा ख़तरा मानते हैं। परंतु वे इसे मनुष्य की कोई ऐसी नियति नहीं मानते जिससे मुक्त होना सम्भव नहीं। वे इस बात पर ज़ोर दे कर कहते हैं कि यह वांछित मुक्ति किसी राजनीतिक, पूँजीवादी और मार्क्सवादी कार्ययोजना के द्वारा सम्भव न हो कर 'प्रोजेक्ट ऑफ़ थॉट' द्वारा सम्भव है।[6] चूँकि प्रौद्योगिकी ने हमारे सोच को ही बदल दिया है, इसलिए उस सोच को ही बदल कर हम जीवन और जगत् के उस मौलिक स्वरूप को फिर से हासिल कर सकते हैं जो 'तकनीकी इनफ्रेमिंग' में जकड़ा हुआ न हो। क्या ठीक इसी तरह पिछले दो हज़ार वर्षों के दौरान विदेशी आक्रमणों, ऐतिहासिक उथल-पुथल और विशेषकर औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक बोध को धूमिल, कलुषित और अन्यथा नहीं कर दिया है? इससे उसके स्वरूप और ऐतिहासिक क्रियान्वयन की सातत्यता ही मानो छिन्न-भिन्न हो गयी है। निश्चय ही भारत की आत्मा एक छद्म आत्मा और भारतीय होने की चेतना एक छद्म चेतना में रूपांतरित हो गयी है। अत: यह कोई राजनीतिक समस्या अथवा राजनीतिक आधिपत्य को स्वीकार कर लेने की समस्या नहीं है। यदि प्रारम्भ में यह राजनीतिक समस्या रही भी हो तो आज यह धीरे-धीरे सांस्कृतिक दासता के रूप में अंतस्थ हो गयी है। मूलगामी रूप से वि-औपनिवेशीकरण का तरीक़ा और लक्ष्य यदि भारत के प्रामाणिक आत्म की पहचान और उसे फिर से हासिल करना एक समझदारी की समस्या है तो यह सर्वथा उचित ही है। यदि एक साभ्यतिक राजनीति की ऐतिहासिक साज़िश द्वारा भारतीयों के भारतबोध को बदला गया है तो उस समझ को ही बदलकर हमारी सनातन वापसी हो सकती है।

II

यहाँ इस बात का प्रतिस्मरण करना उचित होगा कि बीसवीं सदी के कई एक महत्त्वपूर्ण विचारक वि-औपनिवेशीकरण की कार्ययोजना को भारतीय संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान की बौद्धिक परियोजना के रूप में ही देखते हैं। इस मुद्दे पर इनकी चर्चा नहीं के बराबर होती है। इनमें प्रमुख रूप से कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य, जड़ावलाल मेहता, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, गोविंद चंद पाण्डेय, निर्मल वर्मा, यशदेव शल्य और रमेशचंद्र शाह को परिगणित किया जा सकता है। के.सी. भट्टाचार्य वि-औपनिवेशीकरण की फलश्रुति 'विचारों में स्वराज' में देखते हैं। इस संबंध में 1929 में हुगली कॉलेज के प्रिंसिपल पद से 'स्वराज इन आइडियाज़' शीर्षक से दिया गया उनका व्याख्यान आँखे खोलने वाला है। उनके अनुसार :

> आज हम राजनीतिक संदर्भ में स्वराज अथवा आत्म-निर्णय की बात करते हैं। मनुष्य का मनुष्य के ऊपर आधिपत्य राजनीति के क्षेत्र में ही सबसे अधिक महसूस होता है। किंतु इस आधिपत्य का एक सूक्ष्मतर रूप भी होता है जो कि विचारों के क्षेत्र में एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति पर हावी होने में दिखाई पड़ता है। यह आधिपत्य अंतत: अधिक चिंताजनक होता है, क्योंकि साधारणत: लोग इसे

[6] देखें, मार्टिन हाइडेगर (1993); रेचर वॉलिन (1993) : 111-113.

> महसूस नहीं करते। राजनीतिक दासता का मूल अर्थ होता है कि किसी राष्ट्र के बाह्य जीवन पर नियंत्रण। यद्यपि इस नियंत्रण की प्रवृत्ति शनैः शनैः आंतरिक जीवन में उतरने की होती है तथापि इस नियंत्रण के प्रति सजगता इस प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करती है। जब तक व्यक्ति किसी बंधन के प्रति सचेत है तब तक उसके द्वारा उसका प्रतिरोध भी सम्भव है। उसे एक अपरिहार्य बुराई के रूप में सहते हुए भी आत्मा में स्वतंत्र रहा जा सकता है। दासता तब प्रारम्भ होती है जब व्यक्ति बुराई को महसूस करना ही बंद कर देता है। जब अशुभ को शुभ के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो वह दासता और गहन-गम्भीर हो जाती है। सांस्कृतिक पराधीनता साधारणतः अचेतन प्रकार की होती है और उसमें दासता प्रारम्भ से ही निहित होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का अपना लेना अवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं है। एक स्वस्थ विकास के लिए यह कभी-कभी ज़रूरी भी हो सकता है। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक प्रेत या भूत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गयीं। उसे एक नये जन्म की अनुभूति होती है। इसे ही मैं विचारों का स्वराज कहता हूँ।[7]

द्रष्टव्य है कि यहाँ विचारों में स्वराज के माध्यम से भट्टाचार्य जिस नये जन्म की अनुभूति की ओर संकेत कर रहे हैं वह अपने सांस्कृतिक आत्म पर परायी संस्कृति के आच्छादन को अनावृत कर निज संस्कृतात्मा के तादात्म्य बोध में ही तो प्रतिष्ठ होता है।

इसी तरह पूरब और पश्चिम की आर-पार समझ रखने वाले जड़ावलाल मेहता भी औपनिवेशीकरण की अपहितियों को 'क्रायसिस ऑफ़ अंडरस्टैंडिंग' के रूप में ही देखते हैं। वे औपनिवेशीकरण के चलते हुए आत्मनिर्वासन को आत्मकथा बनाकर कहते हैं कि :

> मैं इस तथ्य को भुला नहीं सकता कि मैं आज के हिंदुस्तान के जीवन-संसार का भी भागीदार हूँ और इसके अलावा, इससे परे, पश्चिमी प्रविधि की उस विश्वव्यापी घटना का भी, जिसने अब समूची दुनिया को अपने चपेट में ले लिया है : हाइडेगर के मुहावरे में 'वर्ल्ड सिविलाइज़ेशन' की शक्ल में। ऐसी परिस्थिति में, मेरे लिए करने को बचता ही क्या है, सिवा इसके कि मैं पावनता के अवशिष्ट पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए ऐसी भाषा पाने का प्रयत्न करूँ जिससे वे चिह्न और वह आदि स्रोत आज अर्थोन्मेषक ढंग से मुखर हो सकें।[8]

जड़ावलाल मेहता का यह वक्तव्य जितना मर्मस्पर्शी है उतना ही अंतर्भेदी भी है। एक ओर वे दोहरे मन की बात कर रहे हैं जो एक साथ भारतीय और युरोपीय जीवन-लोक का सदस्य बन गया है। औपनिवेशीकरण का सबसे घातक प्रभाव हमारे मन का यही दोहरापन है। दूसरी ओर वे मन के इस दोहरेपन से मुक्त होकर भारतीय जीवन-लोक के प्रामाणिक मूल्यबोध में सनातन-वापसी की भी कामना करते हैं। साथ ही साथ उन्हें श्रुत्यर्थपर्यालोचना की एक प्रविधि (हरमैन्युटिक्स) की भी तलाश है ताकि भारतीय परम्परा के पावन-अर्थ-संदर्भों को युरोपीय अर्थाच्छादन से मुक्त किया जा सके। पुनः इस श्रुत्यर्थपर्यालोचन की फलश्रुति का संकेत करते हुए वे कहते हैं कि :

> पूर्व में मेरे लिए कोई दूसरा रास्ता खुला नहीं है, सिवाय इसके कि युरोपीयकरण के साथ चलते हुए और उससे परे निकल जाने के। विदेश और विचित्र की इस यात्रा से गुज़रकर ही हम अपने को दुबारा पा सकेंगे, और इसलिए यहाँ भी हमें उसी चीज़ तक पहुँचने के लिए, जो हमारे बेहद समीप है, एक लम्बा रास्ता तय करना होगा।[9]

---

[7] देखें, अम्बिकादत्त शर्मा (2006) : 373.

[8] देखें, अम्बिकादत्त शर्मा (2005) : 98.

[9] निर्मल वर्मा (1981) : 41.

सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन के ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं और वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक प्रेत या भूत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है।

ऐसे ही, निर्मल वर्मा बीसवीं सदी के उन विरले चिंतकों में एक हैं जिनकी विचार-शैली को औपनिवेशिक समसामयिक भारतीयता का अपवाद कहा जा सकता है। वे अपनी विभिन्न औपन्यासिक कृतियों तथा बहुविध वैचारिक एवं साहित्यिक निबंधों में युरोपीय सभ्यता को पूर्व-पक्ष बना कर औपनिवेशीकृत हुए भारतीय मन की ग्रंथियों को तार-तार करके विश्लेषित करते हैं। इस संदर्भ में हैडिलबर्ग विश्वविद्यालय में 'भारत और युरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र' शीर्षक से दिया गया उनका अज्ञेय स्मृति व्याख्यान दृष्टि-विदारक है। उनका सम्पूर्ण साहित्य कर्म और चिंतन औपनिवेशिकता के विरुद्ध अपने विश्वसनीय सांस्कृतिक आत्म को फिर से हासिल करने की एक विमर्श-परियोजना है। इस परियोजना के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि :

> भारत में युरोप का उपनिवेशवाद सिर्फ़ भौगोलिक सीमाओं तक सीमित नहीं था, बल्कि उसकी जड़ें कहीं गहरे तक जाती हैं। इसने भारत के कालबोध को भी अपना निजी उपनिवेश बनाने की चेष्टा की। उन्होंने भारत के वर्तमान को अतीत के विखण्डन के रूप में देखा और वह अतीत, भले ही गौरवपूर्ण रहा हो, अब मृत और बीत चुकी चीज़ मान लिया गया। यहाँ से ही भारत के विषय में बनी उस घिसी-पिटी रूमानी धारणा का जन्म हुआ, जिसके अनुसार भारत वह देश था जो सुदूर अतीत से आकर अपने विकृत वर्तमान से होते हुए युरोपीय वर्तमान को सम्बोधित कर रहा था।[10]

इस तरह निर्मल वर्मा युरोपीय उपनिवेशवाद की 'आइडियोलॉजिकल पॉलिटिक्स' को उसके नेपथ्य में देख पाते हैं। वह इस तरह कि उपनिवेशकालीन भारत का सामना पारम्परिक युरोप से नहीं हुआ था बल्कि वह ज्ञानोदित युरोप से मुख़ातिब हुआ था। उसी तरह ज्ञानोदित युरोप अपने विज्ञान, विकास, भौतिक समृद्धि और स्वतंत्रता एवं समानता के मानववादी मूल्यों और अन्य लुभावने मूल्यों को लेकर अतीत के भारत के समक्ष उपस्थित नहीं हुआ था बल्कि अतीत से कटे हुए वर्तमान भारत के समक्ष प्रस्तुत हुआ था। युरोप की इस 'आइडियोलॉजिकल पॉलिटिक्स' का सबसे ख़तरनाक पहलू अतीत और वर्तमान के भारत में विभाजन द्वारा वस्तुत: भारत का आत्मविभाजन था। भारत को इस तरह आत्मविभाजित किये बिना युरोप का उपनिवेशवाद यहाँ वैसे ही सफल नहीं हो पाता जैसे शक, हूण, यवन और मुग़ल इत्यादि भारत को उपनिवेशीकृत नहीं कर पाए थे।[11] वास्तव में अतीत के भारत (वास्तविक भारत) के समृद्ध सांस्कृतिक-साभ्यतिक मूल्यबोध का सामना स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के मानववादी मूल्यों से किया ही नहीं जा सकता था। लोक और अध्यात्म दोनों ही दृष्टियों से सम्पन्न भारत के समक्ष इन मानववादी मूल्यों की आभा का क्षीण हो जाना स्वाभाविक ही था।

---

[10] वही : 35.

[11] इस संदर्भ में भारत के प्रति कार्ल मार्क्स की टिप्पणी आँखें खोलने वाली है— 'इंग्लैण्ड के भारत में दो उद्देश्य हैं. एक विध्वंसात्मक, जिसमें एशियायी समाज-व्यवस्था को उन्मूलित करना है. दूसरा, इस समाज को पश्चिम के भौतिक आधार से जोड़ देना है. अरब, तुर्क, मंगोल इत्यादि ने भारत को क्रमश: जीता, शीघ्र ही उनका हिंदूकरण हो गया. यह इतिहास का एक शाश्वत नियम है जिसके तहत बर्बर विजेताओं को श्रेष्ठ सभ्यता के द्वारा पराभूत कर दिया जाता है. ब्रिटिश ऐसे पहले श्रेष्ठ सभ्यता के लोग थे जिन्होंने भारत को जीता. इसलिए वे हिंदू-सभ्यता की पकड़ से बाहर रह गये. उन्होंने भारत की देशी सामुदायिक संरचना और उत्पादन की देशी-प्रणाली को उन्मूलित कर उखाड़ फेंका. इतिहास के पन्ने भारत में अंग्रेज़ी राज का वर्णन इससे इतर शब्दों में नहीं कर सकते'. देखें, कार्ल मार्क्स (1853).

निर्मल वर्मा भारत के इस गहरे औपनिवेशीकरण और उसकी धुंध से बाहर निकलने के एक ख़तरे को भी बड़े मार्मिक ढंग से संकेतित करते हैं। वे कहते हैं कि उपनिवेशवाद के कारण उत्पन्न हुए उन्मूलन में एक भारतीय बुद्धिजीवी (चिंतक) को कायांतरण की तमाम अवस्थाओं से गुज़र कर ही अपना विश्वसनीय आत्म हासिल हो पाता है। यद्यपि यह बात उन्होंने अज्ञेय के बरअक्स कही है और यह स्वयं उनके ऊपर भी लागू होती है; लेकिन सच पूछा जाय तो यह वैसे सभी बुद्धिजीवियों का खरा सच है जो अंधश्रद्धा से नहीं बल्कि आत्मालोचन की गहन प्रक्रिया से गुज़र कर भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक अधिकार बोध में स्वप्रतिष्ठ होने की आकांक्षा रखते हैं। भारतीय मन को इतने गहरे में औपनिवेशीकृत किया गया है कि उससे निकलने के कई एक रास्ते जो वास्तव में भटकाने वाले होते हैं, सही रास्ते प्रतीत होते हैं।

द्रष्टव्य है कि भारत के पुनर्जागरणकालीन बंगाल के बुद्धिजीवी वर्ग के एक बड़े ख़ेमे को युरोप की आधुनिकता ईसाईयत के सहकार के साथ बहुत आकर्षक लगती थी। वे सभी पश्चिमी ज्ञानोदय के मूल्यों को अंदर ही अंदर न्यूनाधिक रूप से अपना लेने में ही भारत का उद्धार देखते थे। यह बात अलग है कि उस दौर के बुद्धिजीवियों में आपाधापी के हद तक की जागरूकता थी और सभी समान रूप से पश्चिम से अभिभूत नहीं थे लेकिन उससे जो प्रभावी धारा निकली वह पश्चिम से बहुत गहरे में प्रभावित थी। अंततः इसी धारा ने अपनी उत्तरजीविता को बनाए रखा, क्योंकि पण्डित नेहरू जैसा उन्हें उत्तराधिकारी प्राप्त हुआ। एक दूसरी विचारधारा 'नान्यः पंथा' के रूप में उपनिवेशवाद का समाधान 'हिंदू रिवायवलिज़म' में देखती है। आजकल इसे दक्षिणपंथ कहा जाता है। इस विचारधारा को अपने ही देश में बहुत भर्त्सना का सामना करना पड़ा है। यहाँ तक कि सम्प्रति इसे फ़ासीवाद कहा जाता है। यद्यपि इनमें कुछ भी ऐसा नहीं है। चूँकि स्वतंत्रता से निकट पूर्व और पश्चात् जिन विजातीय और विधर्मी विचारधाराओं ने भारत पर शासन किया और अपने राजनीतिक लाभ के लिए इस देश की बहुसंख्यक हिंदू-अस्मिता के साथ न्याय नहीं किया, इस कारण इस विचारधारा में उग्रता का पुट आना स्वाभाविक था। अन्यथा इसका चरित्र राजनीतिक कम और सांस्कृतिक पुनरुत्थानवादी अधिक है। भारत में एक तीसरी विचारधारा समाजवादी युरोप को अपना आदर्श समझती है और उदारतावादी-पूँजीवादी युरोप द्वारा भारत के औपनिवेशीकरण के बदले समाजवादी युरोप का उपनिवेश बनने में ही भारत का अपेक्षाकृत अधिक कल्याण देखती है।

यहाँ निर्मल वर्मा के बरअक्स यह कहना उचित होगा कि औपनिवेशीकरण यदि अपने विश्वसनीय आत्म को फिर से हासिल करने का एक अवसर था तो पुनर्जागरणकालीन तथा बाद में उपजे इन विचारधाराओं को उसी प्रक्रिया के अंगभूत एक-एक काय के रूप में समझा जा सकता है। यह बात अलग है कि भारतीय संस्कृतात्मा के इन कार्यों को वास्तविक कहा जाय अथवा उन्हें छद्म काय कहा जाय? इन कायों की विशेषता यह है कि ये सभी परस्पर एक दूसरे से कितने भी अलग क्यों न दिखते हों, सब के सब एक ही भूमि पर खड़े हैं और अपने-अपने ताने-बानों से भारत की आत्मप्रतिमा को गढ़ना चाहते हैं। यह भूमि भारत का वह आत्मविभाजित वर्तमान है जिसे अतीत से अलग-थलग, उसके वाङ्मयी ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करके खड़ा किया गया है। अतः आत्मविभाजित भारत की खण्डित आत्मप्रतिमा को आधुनिक युरोप अथवा समाजवादी युरोप के ईंट-पत्थरों, या फिर प्रचलित हिंदुत्ववादी उपादानों से ही क्यों न पूरा किया जाय, उसे वास्तविक भारत की अखण्ड आत्मप्रतिमा नहीं कही जा सकती। भारत की वास्तविक और सम्पूर्ण आत्मप्रतिमा को अतीत के सातत्य में ही वर्तमान भारत को समझने और उसी के पुरातन लेकिन मूल्यवान अर्थ-संदर्भों से सम्पुटित कर निर्मित किया जा सकता है। अतः उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारत के पुनर्जागरण का एक प्रारूप अतीत के भारत के सनातन मूल्य बोध के पुनराविष्कार का भी हो सकता था। यही सम्भवतः सबसे अच्छा और श्रेयस्कर होता।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी संस्कृति और सभ्यता के विकास की एक स्वकीय

धारा होती है और उसका निर्विकार चरमोत्कर्ष स्वकीय प्रारूप में ही प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है कि भारतीय संस्कृति के अभिव्यक्ति-पक्ष में विकार न उत्पन्न हुए हों, जैसा कि किसी भी संस्कृति के जीवन-प्रवाह में होता ही रहता है। परंतु भारतीय संस्कृति ने ऐसे विकारों को 'स्वरूप' समझने की कभी भूल नहीं की है। भारतीय संस्कृति में ऐसे विकारों से उबरने की आत्मचेतना सदैव दिखाई पड़ती है। अत: उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारत का पुनर्जागरण अपनी संस्कृति के अविकृत स्वरूप-पक्ष और उसके सनातन मूल्यबोध के पुनराविष्कार की आत्मचेतना के साथ हो सकता था। यह भारत की देशज आधुनिकता होती और इसी देशज आधुनिकता की सर्जनात्मक शक्ति से वर्तमान भारत के विकृतियों का परिमार्जन और उपनिवेशी दुष्प्रभावों का प्रक्षालन उचित होता। वस्तुत: वर्तमान की अपेक्षाओं के अनुरूप अतीत की वर्तमान में उत्तरजीविता ही पुनर्जागरण का निहितार्थ है। महात्मा गाँधी और श्री अरविंद के चिंतन में भारतीय पुनर्जागरण का ऐसा ही प्रारूप अपने चरम बौद्धिक पुरुषार्थ के साथ आकार ग्रहण किया है। गाँधी ने अपने *हिंद स्वराज* में युरोपीय सभ्यता को समस्त गुणसूत्रों के साथ उसे उसकी ज्ञानमीमांसा में ही ख़ारिज करते हुए भारत के वास्तविक स्वराज की रूपरेखा एक आत्मपूरित सभ्यता बोध के साथ प्रस्तुत की थी। यह कहना गाँधी के प्रति कोई अतिशयोक्ति नहीं कि उनके विचारों में भारत का सनातन सत्य अपनी सोलहों कलाओं के साथ अवतरित होकर युगानुरूप नवीकृत हुआ था। श्री अरविंद ने भी एक दार्शनिक योगी की भूमिका में अपनी तत्त्वदृष्टि, इतिहास-दर्शन और संस्कृति-दर्शन तथा योग-समन्वय के द्वारा भारतीय सभ्यता बोध को दुनिया के समक्ष जिस 'कॉस्मिक टेलियोलॅजी' के साथ प्रस्तुत किया था वह जितना मौलिक उतना ही प्रयोगधर्मी और सार्वभौतिक चरित्र वाला था।

उपनिवेशकालीन भारत का सामना पारम्परिक युरोप से नहीं हुआ था बल्कि वह ज्ञानोदित युरोप से मुख़ातिब हुआ था। उसी तरह ज्ञानोदित युरोप अपने विज्ञान, विकास, भौतिक समृद्धि और स्वतंत्रता एवं समानता के मानववादी मूल्यों और अन्य लुभावने मूल्यों को लेकर अतीत के भारत के समक्ष उपस्थित नहीं हुआ था बल्कि अतीत से कटे हुए वर्तमान भारत के समक्ष प्रस्तुत हुआ था।

परंतु इसे विडम्बना ही कहिए कि भारतीय पुनर्जागरण का यह सात्विक बौद्धिक पुरुषार्थ भारत के पुन: निर्माण का हेतुबंध नहीं बन सका। स्वाधीन भारत के पहले प्रधानमंत्री और राजनीतिक भारत की सबसे बड़ी हस्ती पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने गाँधी के *हिंद स्वराज* और श्री अरविंद के द *रेनाँसा ऑफ़ इण्डिया* को भुला कर भारत के नवनिर्माण की एक ऐसी 'राजाराममोहनीय' योजना बनाई जिसमें भारत की आत्मा को खोजने के बजाय युरोप की आत्मा की प्राण प्रतिष्ठा कर दी गयी। यद्यपि नेहरू भी बहुत प्रतिभावान और अंतर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति थे और इसीलिए वे गाँधीजी का वैसे ही आदर करते थे जैसे श्रीकृष्ण युधिष्ठिर का सम्मान करते थे। यह बात अलग है कि श्रीकृष्ण आसन्न परिस्थिति में युधिष्ठिर की सत्य निष्ठा को वैसे ही श्रेयस्कर नहीं मानते थे जैसे नेहरू को गाँधीजी की सत्य और अहिंसा उपादेय नहीं लगती थी। नेहरू का यह वक्तव्य इस संदर्भ में देखने लायक़ है जो उनकी सम्पूर्ण आत्मपीड़ा को व्यक्त करता है :

> मैं पूर्वी और पश्चिमी दुनिया का एक विचित्र मिश्रण बन गया हूँ, हर जगह बेगानापन महसूस होता है, कहीं भी अपनेपन का एहसास नहीं होता। जीवन के संबंध में मेरे विचार और दृष्टिकोण उस चीज़ से शायद कम मेल खाते हैं जिसे पूर्वी कहा जाता है और उससे ज़्यादा जो पश्चिमी कहलाती

> है, लेकिन साथ ही साथ भारत असंख्य रूपों में मुझसे उसी तरह चिपटा हुआ है जिस तरह वह अपनी सारी संतानों से चिपटा हुआ है ... मैं न तो उस अतीत की विरासत से छुटकारा पा सकता हूँ और न हाल में जो कुछ प्राप्त किया है उससे। पश्चिमी दुनिया में मैं अजनबी और पराया हूँ। मैं उसका हिस्सा नहीं हो सकता। लेकिन खुद अपने देश में मुझे कभी-कभी किसी निर्वासित व्यक्ति जैसा महसूस होता है।[12]

ये वही पण्डित जवाहर लाल नेहरू हैं जिन्होंने औपनिवेशीकरण के अवशेष 'युरोपीयकरण' को भारत में भरपूर फलने-फूलने का अवसर मुहैया करवाया। कम से कम उनकी इस आत्मपीड़ा को देख कर इस बात का अंदाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है कि स्वाधीन भारत में हमारी आत्मा ही औपनिवेशीकृत हो गयी है। अतः स्वतंत्र भारत में वि-औपनिवेशीकरण की राजनीतिक प्रक्रिया से अधिक ज़रूरी आत्मा के वि-औपनिवेशीकरण की कार्ययोजना है। बाहर से राजनीतिक तौर पर वि-औपनिवेशीकरण के प्रयास उसी अनुपात में इंटरनलायज़्ड हो पाते हैं जिस अनुपात में अंदर से आत्मा वि-औपनिवेशीकृत हो पाती है। राजनीतिक वि-औपनिवेशीकरण कभी-कभी प्रतिगामी रुख़ भी अख़्तियार कर सकता है लेकिन आत्मा के वि-औपनिवेशीकृत होने की प्रक्रिया सदैव पुरोगामी होती है। जड़ावलाल मेहता ने उचित ही कहा है कि :

> अतीत से ही हम यहाँ तक आये हैं और हम युरोप से भी गुज़रकर लौट चुके हैं— यदि पिछले दो सौ वर्षों का उपनिवेशिक अनुभव युरोप की 'यात्रा' नहीं तो आख़िर वह और क्या थी? भारत को जिस चीज़ की ज़रूरत थी (है) वह आत्मा के औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया से गुज़र कर अपने आत्मतत्त्व को दोबारा पाने की, जिसे कोई बाहरी एजेंसी नहीं, स्वयं अपनी परम्परा ही गतिशील कर सकती थी (है)।[13]

जब हम भारतीय संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान के द्वारा भारतीय मन के वि-औपनिवेशीकरण की बात करते हैं तो भट्टाचार्य का 'विचारों में स्वराज', मेहता का 'औपनिवेशीकरण को पार कर अपने आत्म को दोबारा पाना' और वर्मा का 'अपने विश्वसनीय आत्म को फिर से हासिल करना' में जो आशय निहित है वही समष्टि धर्म बनकर प्रतिध्वनित होता है। इस समष्टि धर्म को क्रियान्वित करने के लिए एक भाष्यधर्मी अभियान की ज़रूरत है ताकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अविच्छिन्नता का रहस्य और उसके 'अमृतनाभ' की पहचान प्रामाणिकता के साथ की जा सके। यद्यपि औपनिवेशिक प्रभावों के चलते भारतीय सभ्यता घायल अवश्य हुई है लेकिन वह यूनान और रोम की सभ्यता की तरह मृत सभ्यता नहीं, जिसे संग्रहालयों में ही देखा जा सकता है।

साथ ही साथ संस्कृतात्मा के प्रामाणिक प्रत्यभिज्ञान के लिए 'अंतरंग अन्यों' और 'पराये अन्यों' की पहचान कर हमें कठोर आत्मालोचन की प्रक्रिया से भी गुज़रना होगा, ताकि हमारा सांस्कृतिक-साभ्यतिक बोध 'आलोचक राष्ट्र' में रूपायित हो सके। इसके लिए पक्ष और प्रतिपक्ष, प्रश्न और प्रतिप्रश्न, यहाँ तक कि अप-प्रश्नों के प्रति भी सहिष्णुता आवश्यक है। अनालोचित रूप से आत्ममुग्ध बने रहना जितना आसान है उतना ही कठिन अपने स्वरूप का आलोचनात्मक प्रत्यभिज्ञान होता है। इस प्रत्यभिज्ञान की प्रामाणिकता के लिए यह भी आवश्यक है कि आंतरिक उपनिवेशीकरण और उससे उत्पन्न मुद्दों को अपनी ही सांस्कृतिक भूमि पर सम्यक् रूप से सम्बोधित किया जाए। अतः 'प्रामाणिक संस्कृतात्मा का प्रत्यभिज्ञान' एक 'ओपेन डिस्कोर्स' है और इसमें सब की भागीदारी ही इसे समष्टि-धर्म बनाता है, ताकि नीर-क्षीर विवेक से भारतीय संस्कृतात्मा के उस स्वरूप, उसके 'अमृतनाभ' की वास्तविक पहचान की जा सके जो इतने उतार-चढ़ाव, वैजात्य प्रहारों और कर्दम-कलुषों को सहते हुए भी भारत के जन-गण-मन में प्रतिबोध रूपेण विदित (प्रतिबोधविदितं) होता है।

---

[12] जवाहरलाल नेहरू (1982) : 596.

[13] निर्मल वर्मा (1981), वही : 41.

III

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अमृतनाभ उसका आत्मपूरित होना है। इसका लक्षण यह है कि वह 'अन्य' के संदर्भ में अपने को परिभाषित नहीं करती। इस लक्षण को ठोस आधार प्रदान करने के लिए भारतीय संस्कृति के कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को देखना-समझना रोचक हो सकता है। इसमें पहला यह कि अतीत में भारत जैसा भी रहा हो लेकिन उसकी प्रसिद्धि पराये देशों में अपने प्रसार के लिए जोखिम उठाने की नहीं रही है। दूसरे शब्दों में न धर्मांतरण की इच्छा से और न पराये देशों को जीतने की इच्छा से भारत ने विश्व में कभी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। इसके बावजूद यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि एशिया के व्यापक भू-भागों पर भारतीय संस्कृति विस्तारित हो सकी। इसी विस्तार को हम 'विशाल भारत' के नाम से जानते हैं। दूसरी बात यह कि भारतीयों में दूसरी संस्कृतियों को जानने की उत्सुकता इतिहास के लम्बे अंतराल में भी दिखाई नहीं पड़ती। भारत को जानने की जिज्ञासा लेकर यहाँ यूनानी, चीनी, मुसलमान यात्री— इतिहासकार और पता नहीं कौन-कौन आये लेकिन भारतीय भी ऐसे उद्देश्यों को लेकर बाहर गये हों, इसका कोई दस्तावेज़ी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक कि हिंदुओं का मुसलमानों के साथ कोई दार्शनिक अथवा धार्मिक शास्त्रार्थ भी नहीं हुआ, जबकि वे लम्बे समय तक यहाँ अपनी धार्मिक विचारधारा के साथ शासन करते रहे। ऐसा भी नहीं कि हिंदू पण्डितों में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति ही नहीं रही। वेदों में 'ब्रह्मोद्य' शब्द आर्ग्यूमेंटेटिव इण्डियन का सबसे प्राचीन संदर्भ है।[14] और तो और, बौद्धों से लगभग एक हज़ार वर्षों का प्रचण्ड वाद-विवाद इसका ज्वलंत प्रमाण है। वाद-विवाद के लिए एक सम्पूर्ण शास्त्र का निर्माण सम्भवत: पहली बार भारत में ही हुआ है।

नेहरू भी बहुत प्रतिभावान और अंतर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति थे और इसीलिए वे गाँधीजी का वैसे ही आदर करते थे जैसे श्रीकृष्ण युधिष्ठिर का सम्मान करते थे। यह बात अलग है कि श्रीकृष्ण आसन्न परिस्थिति में युधिष्ठिर की सत्यनिष्ठा को वैसे ही श्रेयस्कर नहीं मानते थे जैसे नेहरू को गाँधीजी की सत्य और अहिंसा उपादेय नहीं लगती थी।

भारतीयों की दूसरी संस्कृतियों और धर्मों के प्रति इस चुप्पी को अन्यों के प्रति जिज्ञासा का अभाव तो नहीं कहा जा सकता। हमें यह मालूम है कि 'आनोभद्रा क्रतवो यंतु विश्वत:' उनकी खुली जिज्ञासा का आदर्श रहा है। वस्तुत: भारतीयों की यह प्रवृत्ति एक सांस्कृतिक मनोविज्ञान का प्रश्न है और इसके खुलासे से उसके साभ्यतिक- सांस्कृतिक चरित्र को बहुत गहरे में समझा जा सकता है। इसकी मीमांसा करते हुए भारतीयों का अन्य संस्कृतियों के प्रति ज्ञानात्मक उदासीनता के दो कारणों को संकेतित किया जा सकता है। इसमें पहला यह कि भारतीयों ने पहले ही एक ऐसी आत्मनिर्भर और आत्मपूरित व्यवस्था तैयार कर ली थी जो जीवन और जगत् की तमाम ज़रूरतों, जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम थी। अत: उन्हें दूसरी संस्कृतियों से कुछ सीखने की आवश्यकता जान नहीं पड़ी। दूसरा एक और गम्भीर कारण यह कि भारतीयों के लिए अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का संदर्भ कभी 'अन्य' रहा ही नहीं, जैसे कि युरोपीयों के लिए यह सदैव रहा है। आत्म को हमेशा यहाँ आत्म-संदर्भी रूप में स्वीकार किया गया है। 'अन्य' की युरोपीय अवधारणा जबकि भारतीयों से बिल्कुल भिन्न रही है। अपने से हमेशा अलग, एक बाहर की वस्तु, आतंक का
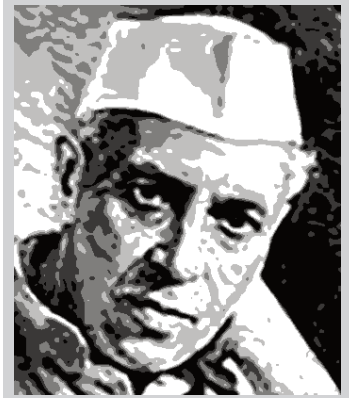
[14] *बृहदारण्यक उपनिषद्,* 3/8/1.

स्रोत और आकांक्षा की वस्तु दोनों एक साथ। हेगेल की 'अन्य' की अवधारणा को ही सार्त्र की यह उक्ति कि 'दूसरे, वे नर्क हैं' प्रतिध्वनित करती है, जहाँ आत्म हमेशा 'अन्य' के बरअक्स और विरुद्ध ही अपनी अस्मिता को परिभाषित करता है। एक ऐसा 'अन्य' जिसे या तो अधिगृहीत किया जा सकता है या फिर वह नष्ट किये जाने योग्य ही है। युरोप के साम्राज्यवादी विस्तार और धार्मिक इतिहास में 'अन्य' के प्रति ऐसा बर्ताव साफ़-साफ़ देखा जा सकता है।

'अन्य' की यह भारतीय और युरोपीय अवधारणा दोनों संस्कृतियों की दार्शनिक दृष्टि से भी संगत है। भारतीय दर्शन में चेतना का परात्पर स्वरूप स्वयंप्रकाश या स्वसंवित् होने से अपने तात्त्विक स्वरूप में ही स्व-संदर्भी है जबकि युरोपीय दर्शन में चेतना का मतलब ही 'ऑफ़ कॉन्शसनेस' होने से वह सदैव 'पर-संदर्भी' ही होता है। परंतु पर-संदर्भी आत्मचेतना के संदर्भ में 'अन्य' की युरोपीय अवधारणा अपने आप में बड़ा ही द्वंद्वात्मक है। यदि 'अन्य' को वह पूरी तरह अपने वश में कर लेता है तो स्वयं उसकी पर-संदर्भी अस्मिता संदेहास्पद हो जाती है। यद्यपि वह 'अन्य' को नष्ट करके ही पूर्ण होना चाहता है, लेकिन बिना 'अन्य' के वह कुछ भी नहीं रहता। बिना 'अन्य' के कुछ नहीं होना यानी सार्त्र का 'नथिंगनेस'। अत: युरोपीय संस्कृतियों के लिए 'अन्य' अपनी असमावेशी अन्यता में ही जिज्ञासा का विषय बनता है। परंतु भारतीयों के लिए 'अन्य' जब तक किसी तरह अपने या अपने तंत्र में समाविष्ट न हो तो वह एक ऐसा सम्बोधी बन ही नहीं सकता जिससे अर्थपूर्ण संवाद किया जा सके। हिंदू परम्परा के लिए बौद्ध ऐसे ही 'अंतरंग अन्य' थे। इसीलिए ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच एक हज़ार से अधिक वर्षों तक शास्त्रार्थ चला और दोनों एक दूसरे को भरपूर सम्बोधित कर पाए। बौद्ध पराये होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से समानतंत्री थे। उनका परायापन धार्मिक दृष्टि से भले ही असमावेशी हो लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से वे उसी तरह अंतरंग रहे जिस तरह भारतीय संस्कृति के अंतरंग शैव, शाक्त और वैष्णव रहे। इसीलिए यह कहना बहुत समीचीन होगा कि बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति से लुप्त नहीं बल्कि उसमें लीन हो गया। परंतु यही बात भारत के इतिहास में मुसलमानों और ईसाइयों के लिए नहीं कही जा सकती। इन दोनों की 'अन्यता' धार्मिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से हिंदू परम्परा के लिए 'असमावेशी अन्य' की कोटि में ही आता है। यद्यपि इतिहास में एक समय ऐसा भी प्रतीत होता है जब भारतीय संस्कृति में सूफ़ी-इस्लाम परम्परा समाविष्ट होने लगी थी और हिंदू भी पीर-मजार पूजने लगे थे, परंतु बाद में इस्लाम की भारत में 'अस्मिता भीति' ने उन्हें उनकी असमावेशी अन्यता में ही लौटा दिया। आज भी इनके द्वारा इस 'असमावेशी अन्यता' को बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। भारत में तबलीग़ी आंदोलन इसी नजरिये को पुष्ट करता है। यही कारण है कि इस्लाम और ईसाई दोनों ही इस देश में व्यापक धर्मांतरण करवाने के बाद भी भारत में संस्थाबद्ध तो हो पाए लेकिन संस्कृतिबद्ध नहीं हो पाए। इस देश में धर्मांतरण तो बाबा साहब भीमराव आम्बेडकर के द्वारा भी करवाया गया लेकिन बौद्ध पक्ष में यह धर्मांतरण उनका 'इण्डोसमॉसिस' कृत्य था। इसलिए नव-बौद्ध भारतीय संस्कृति के लिए असमावेशी अन्य नहीं अपितु अंतरंग अन्य ही हैं। भारत में दलित आंदोलन यदि सफल हुआ तो इसका भी राज़ यही है कि यह आंदोलन उस वर्ग के सांस्कृतिक पहचान और अधिकारों की माँग थी जो भारतीय संस्कृति के अंतरंग अन्य हैं।

युरोपीय सभ्यता के बरअक्स भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता को संज्ञान में लेना यहाँ बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। यह विशेषता युरोप से संवाद करते हुए भारतीय संस्कृतात्मा की प्रामाणिक पहचान के लिए गहरी अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। वह यह कि भारतीय विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं माना जाता है। मनुष्य भी चराचर में तमाम जीवित प्राणियों के बीच महज़ एक प्राणी ही है। इसके विपरीत युरोपीय विश्वदृष्टि में बाइबिल (गौड हैज़ क्रियेटेड मैन इन इट्स मिनी इमेज टू रूल ओवर अर्थ ...) से लेकर विज्ञान (प्रकृतिजयी मनुष्य) तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाए रखा गया है। यही वह अंतर है जिसके चलते इतिहास की भारतीय दृष्टि मानव और मानवीय अतीत की

अवधारणा के घेरे में बँधी नहीं रह जाती, बल्कि समस्त चराचर के अतीत से जुड़ जाती है। आश्चर्य है कि युरोप द्वारा विकसित विज्ञान जो माइण्ड एण्ड मैटर, मनुष्य और प्रकृति के अंतहीन द्वैत पर आधारित है और युरोप जिसे अपने गौरव की ललामभूत उपलब्धि मानता है, वह आज तक इस विशाल, जीवंत और रहस्यपूर्ण मानवेतर संसार से 'आत्मीय सम्प्रेषण' की भाषा खोजने में विफल रही है। वस्तुत: मानवीय संसार का मानवेतर संसार से अलगाव-दुराव युरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम रहा है, जिसने गोएटे को यह कहने के लिए विवश किया कि हर अलगाव-दुराव में विक्षिप्तता के बीज होते हैं और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे पनपने न दिया जाय। इस अलगाव-दुराव से युरोपीय आत्मा की लहू-लुहान विक्षिप्तता ही होल्डरीन और रिल्के की काव्य और कलाकृतियों में दिखाई पड़ती है।

इसके ठीक विपरीत भारतीय जीवन-दृष्टि को इस अलगाव-दुराव का सामना इसलिए नहीं करना पड़ा कि उसने मानवेतर संसार से कभी अपने मिथकीय संबंधों को त्यागा नहीं। सचमुच उस जीवन-दृष्टि के लिए इस अलगाव-दुराव पर विश्वास करना ही मुश्किल है जिसमें जीवन के एक रूप से दूसरे रूप के बीच पुनर्जन्मों और कायांतरों की एक अटूट शृंखला है और जहाँ हर जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुंजी छिपी हुई है। भारतीय दर्शन, धर्म और नीति इत्यादि के द्वारा मनुष्य और प्रकृति, मानवीय और मानवेतर संसार के बीच के संबंधों के रहस्यों को खोलने के बहुविध प्रयास किये गये हैं। 'देवं भूत्वा देवं यजेत्' से लेकर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आदर्श में यही भाव गहरे में प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए अपने जीवन में ऋणत्रय (पितृ ऋण, ऋषि ऋण और देव ऋण) को चुकाना और प्रतिदिन पंच महायज्ञों (भूतयज्ञ, देवयज्ञ नृयज्ञ, पितृयज्ञ और बह्मयज्ञ) का कर्त्तव्य विधान मानवीय संसार और मानवेतर संसार के मध्य आत्मीय संबंध बनाए रखने का ही तो विधान है। इस भारतीय दृष्टि का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए उचित ही कहा गया है कि 'प्रकृति रहस्यपूर्ण है, जैसा कि हर अन्य सत्ता होती है, लेकिन उससे आतंकित होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि वह मनुष्य का एक अंश भी है— मानवीय प्रकृति, उसका स्व-स्वभाव।'[15]

यह कोई महज़ एक संयोग नहीं था कि गाँधी ने *हिंद स्वराज* लिखने के उपरांत भारत में ब्रिटिश हुकूमत के विरोध की शुरुआत की थी। इतना ही नहीं, उसी के आस-पास श्री अरविंद ने *इण्डियाज़ रिबर्थ* (भारत का पुनर्जन्म) और द *रेनाँसा ऑफ़ इण्डिया* (भारत का पुनर्जागरण) लिख कर भारत की मुक्तिकामी योजना को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया था।

वास्तव में देखा जाय तो युरोप ने सर्वप्रथम प्रकृति को ही 'अन्य' के रूप में देखा है और इसी कारण वहाँ एक ऐसे विज्ञान का विकास हुआ जिसका लक्ष्य प्रकृति को समझना नहीं, बल्कि प्रकृति को इस तरह समझना है ताकि उसे मनुष्य की देह-वासना के हित में बदला जा सके। अन्यथा प्रकृति की आत्मीय समझ के आधार पर किसी भिन्न प्रकार के विज्ञान की भी कल्पना की जा सकती है। ऐतरेय उपनिषद् में मनुष्य और प्रकृति, बाह्य और आंतर की स्वभावगत एकता को ही तो यह कहते हुए प्रतिध्वनित किया गया है कि— अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायु: प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिश: श्रोतं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधिवनस्पतयो भूत्वा त्वचं
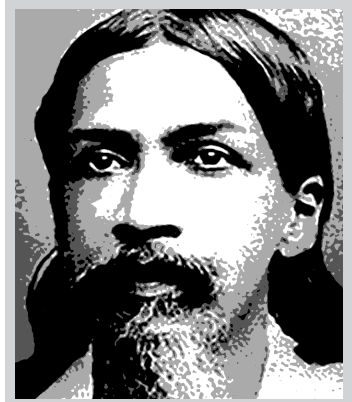
[15] निर्मल वर्मा (1981), वही : 80.

प्राविशन्। चंद्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशत्। भागवत् पुराण में भी इस चराचर सृष्टि के अविरोध को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि— अहस्तानि सहस्तानां अपदानि च चतुष्पदां, फल्गुनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनम्। लेविस्त्रास ने भारतीय परम्परा के ऐसे ही मिथकीय स्रोतों को पूर्वी संस्कृतियों के सम्पर्क सूत्र (एंकर प्वायंट्स ऑफ़ ईस्टर्न कल्चर) कहा है। इसे पश्चिमी मन का अहंकार कहा जाय या दम्भ कि वह पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने परिष्कार के लिए कभी तैयार नहीं होता।

IV

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का एक और विलक्षण लक्षण उसके इतिहास बोध में निहित है। ऐसा इतिहास बोध जिसमें अतीत कोई बीती हुई याद न होकर मेहँदी की तरह वर्तमान में रचा-बसा रहता है। यह कोई ऐसी ऐतिहासिक स्मृति नहीं जैसी युरोपवासियों की इतिहास-चेतना में यूनान की सभ्यता एक निर्जीव स्मृति मात्र है और जिसे वह पुस्तकों अथवा संग्रहालयों में याद तो कर सकता है लेकिन उसके वर्तमान को वह सम्बोधित नहीं करता। परंतु भारतीय सभ्यता की यह अद्‌भुत विशेषता रही है और सम्भवत: यही उसके अद्यतन जीवंत होने का रहस्य भी है कि वह अतीत को व्यतीत न मान कर उसे समकालीन जीवन की प्रतीक-व्यवस्था में समायोजित करती रहती है। इसीलिए भारतीय जीवन-दृष्टि में अतीत उतना ही अर्थवान और संस्कारशील बना रहता है जैसा कि वह अपने बीते हुए वर्तमान में रहा होता है। ऐसी इतिहास-दृष्टि में ही पूर्वज-बोध माता-पिता से लेकर ईश्वर तक विस्तार पाता है। तभी तो कृष्ण पूर्वजों में अपने को अर्यमा कहते हैं। संस्कृतात्मा की उत्तरजीविता के लिए निश्चय ही ऐसी दृष्टि स्वागत योग्य है और आत्मचेतन मनुष्य के लिए वरेण्य भी है, परंतु वह संस्कृतात्मा अतीत की मलिनताओं से मुक्त अपने धवल से धवलतर स्वरूप में वर्तमान को सम्बोधित करे, इसके लिए एक विशेष प्रकार की आत्मालोचक आत्मचेतना अपेक्षित होती है। इस प्रकार की आत्मचेतना सांस्कृतिक जीवन में स्वाभाविक रूप से सक्रिय रहती है। यही कारण है कि अतीत की बुराइयों से वर्तमान दोषयुक्त भी होता है और परिष्कार तथा प्रक्षालन की प्रक्रिया भी साथ-साथ चलती रहती है।

भारतीय इतिहास में संस्कृतात्मा का ऐसा जीवन-चक्र स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। वाल्मीकि रामायण 'सत्य' को आधारभूत मानकर भारत के सांस्कृतिक जीवन को प्रस्तुत करने वाला महाकाव्य है और महाभारत में 'धर्म' को आधारभूत मानकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति को खड़ा किया गया है। पुन: तुलसीदास ने सत्य और धर्म के समन्वय को प्रस्थान-बिंदु बनाकर रामकथा का प्रणयन नवीन सांस्कृतिक संदर्भों में किया है। यह इस बात का प्रमाण है कि सत्य और धर्म भारतीय संस्कृति और सभ्यता के आधारभूत मूल्य हैं और भारत के सांस्कृतिक जीवन में उन्हीं का पुनरावर्तन होता रहता है। युरोप में भी महाकाव्यों की महान परम्परा रही है लेकिन उनमें इतिहास-चेतना का सातत्य और पुनरावर्तन प्रतिध्वनित नहीं होता। कुछ महाकाव्य यूनानी सभ्यता के पतन का रोना रोते हैं तो कुछ मध्ययुग का महिमागान और कुछ ज्ञानोदित युरोप द्वारा पारम्परिक युरोप की विस्मृति का विलाप करते हैं। वस्तुत: युरोप की इतिहास-चेतना वर्तमान और अतीत में सीधा-साधा भेद करती है। इसमें उस सूत्रात्मा का नितांत अभाव है जो वर्तमान को उसके अतीत से जोड़ सके। एक आधुनिक युरोपीय के लिए अतीत मानो प्राणदायक शक्ति से सर्वथा रहित जड़ वस्तु है और उससे उत्तरोत्तर अपने को काटते जाना ही प्रगतिशील वर्तमान है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता अपनी इतिहास-दृष्टि के इन्हीं गुण-लक्षणों के चलते युरोप के लिए सदैव ही विस्मयबोधक बना रहा है। उसकी विश्वदृष्टि के साँचे में यह समायोजित नहीं हो पाता। इस पर निर्मल वर्मा[16] की टिप्पणी बड़ी सटीक है कि :

---

[16] वही : 14.

> भारतीय सभ्यता का अस्तित्व पश्चिम के लिए एक विडम्बना है, एक पहेली और एक विरोधाभास जान पड़ता रहा है। यदि वह यूनान और मिस्र की सभ्यता की तरह महान ऐतिहासिक स्मृति का अवशेष होती तो वह मृत किंतु मूल्यवान सत्य हो सकती थी, यदि वह अफ़्रीकी या लातिन अमेरिकी क़बीले की तरह कुछ प्रागैतिहासिक प्रथाओं का पुंज मात्र होती, तो हज़ारों नृतत्वशास्त्री इसकी चीड़-फाड़ करने यहाँ पहुँच जाते, या फिर अगर वह अपने को किसी धर्म विशेष में सिकोड़ कर एक असहिष्णु सम्प्रदायगत राष्ट्र में बदल देती, तो भी वह ईरान या पाकिस्तान की तरह स्वीकार्य हो सकती थी।

परंतु कठिनाई यह है कि परम्परागत भारतीय सभ्यता बोध को न तो उस ढाँचे में ढाला जा सकता है, जिसमें वर्तमान सदैव अतीत से अपने को वियुक्त करने में फलित होता है और न ही इसे मज़हब, क़बीले या आधुनिक राष्ट्र–राज्य की किसी बनी–बनाई श्रेणी में संकुचित किया जा सकता है। अत: एक ओर आधुनिक युरोप द्वारा अपने दर्पण में भारत की आत्मछवि को देखना उसकी इतिहास–दृष्टि की मानो प्रागनुभविक विवशता है तो दूसरी ओर इस इतिहास–दृष्टि को चश्मा बनाकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समझना एक सरासर बेमानी है। यही कारण है कि आधुनिक युरोप और समाजवादी युरोप दोनों के पैरोकारों ने भारत की तस्वीर का अपने–अपने तरीक़े से प्रतिरूपण किया, जो उसके समृद्ध और गौरवशाली अतीत से पूरी तरह कटी हुई थी। इस तरह वास्तविक भारत दोनों की आँखों से ओझल ही बना रहा, क्योंकि वह उनकी आँखों में समा नहीं सकता था। यह बात ठीक वैसे ही है जैसे पराये अजनबी को किसी शहर के वासी हमेशा एक भीड़ दिखाई पड़ते हैं, उस भीड़ की लय और अंतर्धारा का रहस्य सिर्फ़ उस नगर का वासी ही जानता है। क्या भारत के प्रति यह एक अजनबी–दृष्टिकोण नहीं कि हेगेल अपनी युरोकेंद्रित अवधारणात्मक योजना में भारत को आत्मचेतना के विकास में स्वप्निल अवस्था वाला भूभाग मानते हैं और युरोप को आत्मचेतना की शीर्ष अवस्था में प्रतिष्ठित करते हैं। इसी तरह क्या भारतीय संस्कृति को सामंतवाद की जर्जरित मरणासन्न स्थिति में देखना मार्क्स की अपनी इतिहास–दृष्टि की मजबूरी नहीं है। वस्तुत: आधुनिक युरोप और समाजवादी युरोप के क़ायदे आज़म हेगेल और मार्क्स अपनी–अपनी इतिहास–दृष्टि के चलते ही भारत की नियति को अपनी–अपनी टिप्पणियों में टाँक देते हैं। हेगेल का विश्वास था कि भारत तभी अपने को एक बार फिर मूर्तिमान कर सकेगा जब वह अपने को युरोपीय वर्तमान में ढालेगा। इसी तरह मार्क्स की दृष्टि में भारत अपनी नियति को ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया से गुज़र कर ही प्राप्त हो सकता है।

अवधेय हो कि युरोप और भारत के बीच ऐतिहासिक दुरभिसंधि का यही वह स्थल है जहाँ से आधुनिक युरोप (उदारवादी–पूँजीवादी युरोप) और समाजवादी युरोप की भारत को प्राधिकृत करने की योजना शुरू होती है। एक के लिए वास्तविक भारत पुरातात्त्विक स्थल से ज़्यादा कुछ नहीं, जहाँ से उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक वैभव, उसके दर्शन और महान साहित्यों को अब खोद कर ही निकाला जा सकता है। इसलिए वह अपने वर्तमान को युरोपीय वर्तमान में ढाल कर ही विकसित होने का प्रमाण पत्र प्राप्त कर सकता है। दूसरे के लिए वास्तविक भारत ऐतिहासिक भौतिकवाद के जर्जरित सामंतवादी सोपान पर उसकी प्रयोगभूमि बनने के लिए मानो अभिशप्त है। इस तरह युरोप के दोनों धड़ों ने भारत की वास्तविक आत्मप्रतिमा पर दो भिन्न प्रकार की आत्मप्रतिमाओं को प्रत्यारोपित करने में सफल हुए। इन दोनों आत्म–प्रतिमाओं को अतीत और वर्तमान के भारत में बहुत चौड़ी सांस्कृतिक फाँक की दरार पैदा कर निर्मित की गयी थी। इसी दरार को पैदा कर भारत को उसके सुदूर अतीत से काटकर 'प्रोजेक्टेड वर्तमान' की दहलीज़ पर पूँजीवादी युरोप या फिर समाजवादी युरोप से प्रतिकृत होने के लिए तैयार किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत को इन दोनों प्रत्यारोपित आत्मछवियों के बीच दोलायमान खुली आँखों से देखा जा सकता है। इस तरह आधुनिक भारत आत्मप्रतिमा के संकट से ग्रस्त एक सांस्कृतिक संकट वाले देश में रूपांतरित हो गया। अत: यदि हम वास्तविक भारत के इस वास्तविक संकट को समझते हैं तो किसी भी भारतीय के लिए अपने विश्वसनीय सांस्कृतिक आत्म

को हासिल करना और उसमें पुनर्प्रतिष्ठ होना समष्टि धर्म बन जाता है। इस समष्टि धर्म को समझ की कार्ययोजना बनाकर ही क्रियान्वित किया जा सकता है। यह कार्य एक जटिल वाद्ययंत्र के सुर मिलाने जैसा है। इसका फल संस्कृतात्मा के नि:शंक और निर्भ्रांत बोध में प्रतिष्ठ होकर उसे अपने-अपने स्तर से क्रियान्वित करना है। ऐसा क्रियान्वयन जिसे आत्मक्रियान्वयन से अभिहित किया जा सके। संस्कृतात्मा को जब हम अपने हृदय में मूर्ति की तरह स्थापित करेंगे तभी हमारे एक-एक कार्यों में सच्ची राष्ट्रीयता झलक सकेगी। द्रष्टव्य है कि गीता भी एक समझ की ही कार्ययोजना है। उसका लक्ष्य भी विषादयुक्त अर्जुन को प्रामाणिक आत्मबोध और धर्मबोध में प्रतिष्ठित कर उसकी प्रस्थिति और भूमिका को तय करना रहा है। यदि गीता में संचालित समझ की कार्ययोजना एक धर्मयुद्ध में क्रियान्वित हो सकती है तो भारतीय संस्कृतात्मा के अभ्रांत समझ की कार्ययोजना भी औपनिवेशीकरण और युरोपीयकरण के प्रतिवाद का सामर्थ्य प्रदान कर सकती है। अत: भारतीय संस्कृतात्मा के प्रामाणिक प्रत्यभिज्ञान द्वारा इस सामर्थ्य को फिर से हासिल करना ही समस्त भारतीयों का आधुनिक स्वधर्म है।

संदर्भ

अम्बिकादत्त शर्मा (सं.) (2005), *समेकित दार्शनिक विमर्श,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.

अम्बिकादत्त शर्मा (सं.) (2006), 'विचारों में स्वराज', *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.

कार्ल मार्क्स (1853), 'द फ़्यूचर रिज़ल्ट्स ऑफ़ द ब्रिटिश रूल इन इण्डिया', *न्युयॉर्क डेली ट्रिब्यून,* 8 अगस्त.

जड़ावलाल मेहता (1986), *कविकर्म और चिंतन,* नैशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

जवाहरलाल नेहरू (1982), *एन ऑटोबायोग्राफ़ी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

निर्मल वर्मा (1981), *भारत और युरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

बनारस हिंदू विश्वविद्यालय रजत जयंती समारोह में 21 जनवरी, 1942 को दिया गया भाषण (2007), *गाँधी मार्ग,* मार्च-अप्रैल.

बृहदारण्यक उपनिषद्, 3/8/1.

मार्टिन हाइडेगर (1993), 'ऑनली अ गॉड केन सेव अस', मार्टिन हाइडेगर के साथ डेर *स्पीगल* में साक्षात्कार.

रेचर वॉलिन (1993), *द हाइडेगर कंट्रोवर्सी : अ क्रिटिकल रीडर,* एमआईटी प्रेस, न्युयॉर्क.